

भारत के लोकतंत्र का कानून
The Law of Indian Democracy

माधव खोसला
Madhav Khosla
July 29, 2013

सूक्ष्म लोकतांत्रिक आदर्शों को अमलीजामा कैसे पहनाया जाए, इसका निर्णय बहुत आसान नहीं है। कुछ व्यापक निर्णय संस्थागत होते हैं, जैसे कि देश को संसद की प्रणाली अपनानी चाहिए या नहीं; और कुछ निर्णय बहुत सूक्ष्म होते हैं- जैसे चुनावी जिलों को किस आधार पर गठित किया जाए, चुनावी भाषणों का नियमन कैसे किया जाए, आदि..आदि. लोकतांत्रिक आदर्श को विशिष्ट संस्थागत स्वरूप प्रदान करने से उसका प्रभाव मूलतः उसकी कार्यप्रणाली पर पड़ सकता है और उस आदर्श को अपने-आपमें चुनौती भी दे सकता है. यद्यपि भारत की चुनावी प्रशासन प्रणाली काफी हद तक निष्पक्ष रूप में काम करती है, लेकिन इस प्रणाली के अन्य पक्षों का नियमन न तो ठीक ढंग से हुआ है और न ही उन्हें अच्छी तरह से समझा गया है. हाल ही में दिये गये दो न्यायिक निर्णयों से भारतीय लोकतंत्र का नियमन करने वाले सिद्धांत उजागर हो गये हैं.

पहला निर्णय केंद्रीय सूचना आयोग (सीआईसी) ने दिया है. इस निर्णय के अनुसार राजनैतिक दल सूचना अधिकार अधिनियम, 2005 के अंतर्गत सार्वजनिक प्राधिकरण हैं. इस अधिनियम की धारा 2(एच)(डी)(ii) के अनुसार सार्वजनिक प्राधिकरण “एक ऐसा गैर-सरकारी संगठन है, जिसकी निधियों का वित्तपोषण बहुत हद तक उचित शासकीय व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किया जाता है.” बहुत कुछ तो इस बात पर निर्भर करता है कि आप बहुत हद तक निधियों के वित्तपोषण का क्या अर्थ लगाते हैं. आयोग ने पिछली नज़ीर के आधार पर यह निर्णय दिया है कि बहुत हद तक निधियों के वित्तपोषण का अर्थ अनिवार्यतः अधिकांश निधियों का वित्तपोषण नहीं है, लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि सरकारी निधियों के वित्तपोषण से संबंधित सभी मामले भले ही कितने भी आंशिक हों, बहुत हद तक निधियों के वित्तपोषण के अंतर्गत ही आते हैं. राजनैतिक दलों के मामले में, सरकारी निधियों के वित्तपोषण के अंतर्गत मध्य दिल्ली की ज़मीन के बड़े हिस्सों का आबंटन, रियायती दरों पर किराये पर मकानों का आबंटन, आयकर से पूरी छूट, सरकारी रेडियो और टेलीविज़न आदि पर निःशुल्क प्रचार की सुविधा भी आती है. अकेली आयकर से पूरी छूट ही का अर्थ है कि राजनैतिक दलों की आय पर तीस प्रतिशत की छूट दी गयी है. धर्मादा संस्थाओं के विपरीत इस छूट पर अपनी गतिविधियाँ चलाने के लिए कोई शर्त नहीं है. यह छूट बिना किसी शर्त के लागू होती है. राजनैतिक दलों के वित्तपोषण को बहुत हद तक निधियों का वित्तपोषण माना जाए या नहीं, इस बात का पता लगाने के लिए ही आयोग ने इन सभी पक्षों पर विचार किया है.

निर्णय का दूसरा पक्ष है, राजनैतिक दलों से संबंधित उनकी चर्चा. आधुनिक लोकतंत्र में मतदाता राजनैतिक दलों के ज़रिये ही राजनीति में प्रवेश करते हैं; इसलिए राजनैतिक दलों को इस प्रकार के समन्वय का वाहक माना जाना चाहिए. भारत में राजनैतिक दल और भी महत्वपूर्ण हैं. दल-बदल विरोधी संशोधन पारित होने के बाद इस संविधान ने उन थोड़े से संविधानों में अपना स्थान बना लिया है, जो राजनैतिक दलों को स्पष्ट रूप में रेखांकित करते हैं. राजनैतिक दल विधायकों को बाँधकर रखते हैं और इस कानून की अनुसूची 10 के

अंतर्गत उन्हें अयोग्य भी सिद्ध किया जा सकता है इस विलक्षण शक्ति के चलते यह तर्क करना मुश्किल है कि भारत में राजनैतिक दल केवल अपनी आंतरिक आचार संहिता के अध्यक्षीय ही पूरी तरह से निजी संघ है।

क्या यह आदेश राजनैतिक दलों के व्यवहार को हद में रखता है? राजनैतिक दलों का विनियमन देश द्वारा कई तरीकों से किया जाता है और यह विनियमन खर्चों और अंशदान को सीमित करके भी किया जाता है। आयोग का यह आदेश किसी प्रकार का सीमांकन नहीं करता। यह केवल राजस्व के स्रोतों और उसके उपयोग को प्रकट करने के लिए ही कहता है। इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि राजनैतिक दलों को सूचना अधिकार अधिनियम की परिधि में लाने से उनके आंतरिक विचार-विमर्श की कुछ हद तक छानबीन की जा सकती है। चुनावी कानून में भारी सुधार लाने के लिए उन उपायों पर चर्चा की जानी चाहिए जिनसे राजनैतिक दलों के निजी संबद्ध पक्षों की गोपनीयता का सम्मान करते हुए भी उनकी निधियों के स्रोतों को प्रकट किया जा सके। लेकिन आयोग को इस चिंता पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं थी ; उसने तो केवल यही निर्णय दिया है कि राजनैतिक दल सार्वजनिक प्राधिकरण हैं। इससे तात्पर्य वही निकलता है कि जो कानून में निहित है। चुनावी विनियमन की आवश्यकता इसीलिए है कि किसी स्थिति में जाकर चुनाव प्रचार अभियान के खर्च और राजनैतिक दलों के गठन के कारण ही निष्पक्ष चुनाव के सिद्धांतों का उल्लंघन होने लगेगा। सूचना अधिकार अधिनियम इन तमाम समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान नहीं हो सकता और कदाचित् यही बात न्यायिक नियंत्रण पर भी लागू होती है, लेकिन अपने आंतरिक रूप में आयोग के इस आदेश में दोष निकालना सचमुच मुश्किल है और इसमें राजनैतिक दलों की अविनियमित दुनिया में जो कुछ भी दाँव पर लगा है, उसे इस आदेश में उजागर किया गया है।

10 जुलाई को एक महीने बाद ही उच्चतम न्यायालय ने बिल्कुल अलग किस्म का सवाल पूछा: क्या वर्तमान विधायक के लिए यह संवैधानिक है कि आपराधिक मामला सिद्ध होने के कारण अयोग्य हो जाने के बाद क्या वह अपने अपराध के विरुद्ध अपील कर सकता है? लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 की धारा 8(4) के खंडित उपबंध में कहा गया है कि “किसी भी उपधारा के अंतर्गत उस व्यक्ति के मामले में जो दोष सिद्ध होने की तारीख के दिन संसद का सदस्य या राज्य की विधानसभा का सदस्य हो, की अयोग्यता उस तारीख से तीन महीने बीत जाने तक लागू नहीं होगी, या फिर उस अवधि के दौरान दोष सिद्ध हो जाने या सज़ा मिलने के संबंध में उसने पुनरीक्षण की अपील या आवेदन किया हो या जब तक अदालत द्वारा उस अपील या आवेदन का निपटारा न हो जाए।”

इस मामले की तह में यह सवाल छिपा है कि क्या विधायक के रूप में चुने जाने वाले व्यक्ति की योग्यता वर्तमान विधायक से अलग हो सकती है। इस सवाल में कुछ पाठ संबंधी दोष हैं। संविधान के अनुच्छेद 102 और 191 इस विभेदक व्यवहार पर साफ़ तौर पर रोक लगा देते हैं। जैसा कि अदालत ने कहा है, “अगर कोई व्यक्ति अयोग्यता के कारण संसद या विधान सभा के सदस्य के रूप में चुना नहीं जाता है तो उसी अयोग्यता के कारण वह संसद या विधान सभा का सदस्य भी बना नहीं रह सकता।” खंडित उपबंध संसद की विधायी क्षमता के परे है, संसद की स्पष्ट अपेक्षा के अनुरूप कि वर्तमान सदस्य और सदस्य बनने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए एक ही कानून होना चाहिए। सरकारी पक्ष ने बड़ी प्रवीणता के साथ यह तर्क दिया कि उनका आशय अयोग्यता के लिए दो अलग-अलग मानक स्थापित करना नहीं है; इस उपबंध का मकसद सिर्फ़ यही सुनिश्चित करना है कि आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति पर अयोग्यता लागू नहीं होगी। लेकिन यह परोक्ष

मार्ग उसी गंतव्य तक पहुँचता है और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि संविधान के उस अनुच्छेद 101 और 190 के अनुसार इस पर भी साफ़ तौर पर प्रतिबंध लगा हुआ है, जिसके अंतर्गत वह सीट उसी क्षण खाली हो जाती है जब सदस्य किसी भी प्रकार की अयोग्यता के अध्यधीन होता है. सीट को खाली होने से रोकना असंवैधानिक हो सकता है.

क्या दोषी सदस्य के लिए कोई और उपाय नहीं है? ऐसा शायद ही हो? आपराधिक दंड संहिता के अनुसार यदि सदस्य को स्थगन आदेश मिल जाता है तो उस पर अयोग्यता लागू नहीं होती. ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति सदस्य बना रह सकता है. परंतु इस उपाय में मामले के गुण-दोष की कोई अपील नज़र नहीं आती. इस प्रकार के व्यापक उपबंध से केवल यही छूट मिलती है कि व्यक्ति अपने खिलाफ़ दिये गये निर्णय के विरुद्ध अपराध के गुण-दोषों पर बिना कोई प्रभाव डाले मात्र अपील ही कर सकता है. अदालत द्वारा दी गयी इस छूट को न तो मनमाना आदेश माना जा सकता है और न ही इसे सज़ा का स्थगन आदेश समझा जा सकता है. बल्कि यह एक औपचारिक मामला है और अपने-आप में निर्णय का स्थगन है.

अनुच्छेद 102 और 191 की मंशा यह है कि उपयुक्त प्रतिनिधि के लिए आवश्यक बेस लाइन का मानदंड निर्धारित कर दिया जाए. इस पर सोच-विचार का स्वरूप और दायित्व विधायन प्रक्रिया से संबंधित है जो बिना इस बात पर विचार किये लागू होता है कि व्यक्ति विधायिका के लिए चुने जाने का आकांक्षी है या वर्तमान सदस्य है. वर्तमान सदस्यों को विशेष प्राणी नहीं माना जा सकता, जिनका काम मात्र वही कानून बनाना है जो उनके लिए लाभप्रद हों. निराशा के क्षणों में सरकारी पक्ष ने तर्क दिया कि यह उपबंध इसलिए आवश्यक था क्योंकि वर्तमान सदस्य पर अपराध सिद्ध होने से बहुत ही कम बहुमत के युग के कारण उसकी विधायी क्षमता में कमी आ जाएगी और सरकार के कार्यसंचालन पर इसका प्रभाव पड़ेगा. इसके अलावा, उप-चुनाव की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी और अगर अपराध सिद्ध होने से संबंधित निर्णय उलट जाता है तो यह सारी प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जाएगी. इन तमाम नीति संबंधी तर्कों का विधायी क्षमता के मूलभूत कानूनी सवाल पर कोई असर नहीं पड़ता. लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि अपराध सिद्ध हो जाने पर और उसके निर्णय पर स्थगन आदेश भी न मिलने पर थोड़ी असुविधा ज़रूर हो सकती है. लोकतंत्र के इस कानून का मकसद मामलों को सुगम बनाना नहीं है, इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि एक व्यक्ति का सूक्ष्म मत वोट के रूप में अधिकांश विशिष्ट परिस्थितियों में भी अभिव्यक्ति पा लेता है.

माधव खोसला हार्वर्ड विश्वविद्यालय के शासन विभाग में पीएच.डी के प्रत्याशी हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार <malhotravk@hotmail.com>